

भारतीय सामाजिक व्यवस्था के सन्दर्भ में दलित अवधारणा

विवेक सिंह*

भारत को अपनी प्राचीनता, विशालता, पर्वतों, नदियों, अत्यधिक, जनसमूह, विभिन्न धर्मों, संस्कृतियों, भाषाओं, साहित्य और प्रकृति की प्रदान की हुई नाना प्रकार की नेमतों के कारण विश्व में गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त रहा है। इस देश में ऐसे महान व्यक्तित्व पैदा हुए जिन्होंने सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याण के लिए सन्देश दिया। यहाँ के महान धर्म-ग्रन्थों में सम्पूर्ण मानव सभ्यता के श्रेष्ठतम मूल्य पाये जाते हैं, किन्तु भारतीय सभ्यता और संस्कृति का एक दूसरा पहलू यह भी है जो प्राचीन काल से ही इसकी महानता पर प्रश्नचिन्ह भी लगाता आया है। यह प्रश्नचिन्ह भारतीय सामाजिक व्यवस्था में दलितों (शूद्रों) की स्थिति को लेकर लगता आया है। प्रारम्भ में वैदिक कालीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था का प्रमुख आधार वर्ण व्यवस्था थी जो कि गुण, कर्म एवं स्वभाव के आधार पर निर्धारित होती थी। जिसमें ऊँच-नीच, उत्तम-अधम, स्पृश्य-अस्पृश्य जैसी संकीर्णताओं के लिए कोई स्थान नहीं था। कर्म के आधार पर ही व्यक्ति के वर्ण का निर्धारण होता था। अतः कर्म के आधार पर व्यक्ति अपने वर्ण को परिवर्तित कर सकता था। ऐसे अनेक ऐतिहासिक दृष्टांत हमें मिलते हैं जिसमें निम्न वर्ण के व्यक्तियों ने अपने कर्मों के आधार पर उच्च वर्ण को प्राप्त किया।

समानता एवं कर्म के सिद्धान्त पर आधारित यह वर्णव्यवस्था उत्तर वैदिक काल तक आते-आते जब जन्म पर आधारित होकर जाति व्यवस्था के रूप में परिवर्तित हो गयी तभी से भारतीय सामाजिक व्यवस्था में शूद्र कहे जाने वाले वर्ण की स्थिति अधोगति की दिशा में उन्मुख हो गयी। परिणाम स्वरूप व्यक्ति-व्यक्ति तथा समूह-समूह के बीच जातीय विभेदों, असमानताओं, उच्चता-निम्नता, पवित्रता-अपवित्रता की अभेद्य दीवारें खड़ी हो गयीं। इन्हीं विभेदों, असमानताओं नियोग्यताओं के उपरोक्त विकास की परिणति दलितों अथवा अनुसूचित जातियों के प्रादुर्भाव के रूप में हुई। ये जातियाँ अनेकानेक आर्थिक अभावों से त्रस्त थीं तथा राजनीतिक अधिकारों से पूर्णतः वंचित थीं। शैक्षिक क्षेत्र में उनके अधिकार स्पष्टतः निषिद्ध थे तथा सार्वजनिक जीवन में वे एक दास के रूप में जीवन व्यतीत करने को बाध्य थे। समाज में सबसे निम्न स्थिति होने के कारण इन्हे बाद में दलित वर्ग कहा गया।

*प्रवक्ता-राजनीति शास्त्र विभाग, सी०एम०पी० डिग्री कालेज इलाहाबाद इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

दलित अवधारणा : दलित शब्द उन्नीसवीं शताब्दी के सुधारवादी आंदोलनों की देन है जब अनेक विद्वानों, समाजसुधारकों ने वर्ण व्यवस्था के सबसे निचले स्तर पर खड़े शूद्र वर्ग की सोचनीय दशा की तरफ पूरे राष्ट्र का ध्यान दिलाया और भारतीय सामाजिक व्यवस्था को बदलने का आन्दोलन छेड़ा उसी दौरान यह शब्द प्रचलन में आया। 1867 में महादेव गोविन्द रानाडे, सर आर०जी० भंडारकर एवं नारायण चन्द्रावरकर ने मिलकर महाराष्ट्र में प्रार्थना समाज की स्थापना की। प्रार्थना समाज के समर्थकों ने 'दलित वर्ग मिशन' नामक संस्था की स्थापना की जिसका मूल उद्देश्य दलित वर्ग के उत्थान हेतु कार्य करना था।

पिछड़ा वर्ग आयोग रिपोर्ट के अनुसार दलित शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग सन् 1919 के लगभग आरम्भ हुआ। ब्रिटिश सरकार के शासन काल के दौरान मांटेग्यु चेम्सफोर्ड सुधार द्वारा अखिल भारतीय स्तर पर दलित वर्ग के लिए अनेक सरकारी निकायों में प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया तथा उसी के अनुरूप 1919 में सरकारी भाषा में दलित सर्वग्राही शब्द बन गया जिसमें अनुसूचित जातियाँ, जनजातियाँ, शूद्र समाज तथा बहिष्कृत जातियाँ शामिल कर ली गयीं। 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत सरकारी भाषा में दलित वर्ग अनुसूचित जाति के समानार्थी के रूप में प्रयुक्त किया गया। इस शब्द का प्रचार सबसे अधिक 1970 के दशक में 'दलित पैथर्स' नामक एक राजनीतिक दल ने किया। दलित पैथर्स ने दलित शब्द की परिभाषा में समाज के अनुसूचित जाति, जनजाति, नवबौद्ध, मजदूर, भूमिहीन एवं गरीब किसान सामाजिक व धार्मिक रूप से पीड़ित एक शोषित सदस्यों को शामिल किया। अमेरिकी इतिहासकार जीलियट कहती हैं कि इस शब्द में प्रदूषण, कर्म एवं प्रामाणिक जाति श्रेणी की अस्वीकार्यता निहित है।

दलित शब्द का अभिप्राय : समाजशास्त्र विश्वकोश के अनुसार दलित का तात्पर्य है "मानवीय प्रगति में सबसे पीछे पड़ा हुआ अथवा ढकेला गया सामाजिक वर्ग।"

मानक हिन्दी कोश के अनुसार "दलित जिसका दलन हुआ हो, जो कुचला, रौंदा, मसला गया है। जो दबाया गया हो अथवा उसे पनपने या बढ़ने न दिया गया हो।

वृहद अंग्रेजी हिन्दी कोश में दलित शब्द का अर्थ है हरिजन व अस्पृश्य जातियाँ। मानक अंग्रेजी हिन्दी कोश में दलित का अर्थ है, डिप्रेस्ड, दबाना, नीचा करना, झुकना, विनत करना, नीचे लाना, स्तर नीचे करना, नीची जातियों के लोग अछूत, हरिजन, पीड़ित, दबाए गये पददलित, कुचले व सताये गये लोग।

शाब्दिक रूप से दलित शब्द में व्यापक सामाजिक वर्ग को शामिल किया जा सकता है। विद्वानों में इसकी व्याख्या को लेकर मतभेद है। आधुनिक संदर्भ में इसकी वृहद व्याख्या भी की जाती है।

रामलाल विवेक की मान्यता है कि “भारत के समस्त श्रमजीवी एवं सर्वहारा लोग जो सामाजिक उपेक्षा, गरीबी व शोषण के शिकार हैं, दलित वर्ग के अन्तर्गत समाहित हो जाते हैं। इस वर्ग में समस्त मजदूर, भूमिहीन किसान, कारीगर दस्तकार और महिला वर्ग भी समाहित हो जाते हैं, क्योंकि इन श्रमजीवियों का शोषण पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत होता है।

किन्तु दूसरी तरफ राजकिशोर लिखते हैं कि “दलित शब्द स्थिति का पूरा-पूरा वर्णन नहीं करता। दलित कहने से ऐसा जान पड़ता है कि अमुक व्यक्ति को दबाकर रखा गया है। इस अर्थ में कोई ब्राह्मण या कायस्थ भी दलित हो सकता है। इनके अनुसार दलित शब्द का अर्थ उस वर्ग से होता है जिन्हें अछूत, हरिजन, अनुसूचित जाति या जनजाति कहा जाता है।

जियालाल आर्य लिखते हैं कि “समाज के एक वर्ग के लिए दलित शब्द अधिक पुराना नहीं है। इस शब्द का दायरा बड़ा है। समाज के दबे, कुचले असहाय, अकिंचन लोगों को दलित की संज्ञा दी गयी है। इसमें हरिजन, पिछड़े, आदिवासी, अल्पसंख्यक लोगों को शामिल किया जा सकता है।

डॉ० राम गोपाल सिंह ने लिखा है कि “दलित से आशय यहाँ उन लोगों से है जो संविधान की धारा 341(1)(2) के अन्तर्गत अनुसूचित जाति की श्रेणी में आते हैं।

निष्कर्षतः दलित शब्द से अभिप्राय समाज के उस वर्ग से है जो सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक व राजनीतिक दृष्टि से समाज के सबसे निचले पायदान पर हैं। मुख्य रूप से इसमें अनुसूचित जाति जनजाति तथा कुछ अल्पसंख्यक जातियों को रखा गया है।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से दलितों की स्थिति : वर्ण व्यवस्था और उसके परिणामस्वरूप जातिप्रथा, छुआछूत की प्रथा, भारत की एक कठोर सामाजिक वास्तविकता है जिसकी जटिलता आसानी से समझ में नहीं आती। वर्ण व्यवस्था की जड़ें अतीत के अंधकार में कहीं छुपी हैं और इसी कारण समाजशास्त्र के विद्वान इस विषय पर एकमत नहीं हैं कि जाति भेद की इस अनोखी प्रथा का प्रारम्भ कैसे हुआ और वह किस प्रकार विकसित हुई। हाँ, एक बात है कि वह यह कि वर्ण व्यवस्था की रूपरेखा स्पष्ट है और उसके बारे में कोई मतभेद नहीं है।

सर्वप्रथम उत्तर वैदिक कालीन आर्यों ने चतुर्वर्ण की व्यवस्था की। पहले तीन ही वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) का वर्णन मिलता है। लेकिन बाद में एक वर्ण शूद्र और भी बना दिया गया। यद्यपि ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में सर्वप्रथम हमें चारों वर्णों का वर्णन मिलता है। तथापि अधिकांश विद्वानों की यह मान्यता है कि ऋग्वेद पूर्ववर्ती होते हुए भी उसका पुरुष-सूक्त परवर्ती और प्रक्षिप्त है। अन्यथा ऋग्वैदिक आर्यों में वर्ण-भेद जैसी कोई बात देखने में नहीं आती।

पुरुष सूक्त में शूद्रों की उत्पत्ति विश्व पुरुष के चरणों से बताया गया है जिसका अर्थ विद्वानों ने यह लगाया कि उसका जन्म समाज के तीन अन्य वर्गों की सेवा करने के लिए हुआ है।

उत्तर वैदिक काल (लगभग 1500 ई०पू० से 600 ई० तक) में शूद्रों की स्थिति अस्पष्ट थी। कुछ विद्वान शूद्रों को समाज से अलग नहीं करना चाहते थे और कुछ उन्हें पूर्णतया अलग करना चाहते थे। काठक संहिता के अनुसार शूद्रों से अग्निहोत्र के लिए गाय का दूध नहीं निकलवाना चाहिए। तैत्तिरीय ब्राह्मण ने शूद्रों को वैदिक यज्ञ करने का अधिकार दिया है। शतपथ ब्राह्मण का मत है कि यज्ञ के लिए अभिषिक्त व्यक्ति को शूद्र से बात नहीं करनी चाहिए, किन्तु उपनिषदों से ज्ञात होता है कि सत्यकाम, जाबाल और जनुश्रुति जैसे शूद्रों को वैदिक दर्शन के अध्ययन से वंचित नहीं किया गया। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि शूद्र को उच्च वर्ग के लोग इच्छानुसार पीट सकते हैं। उसको जब चाहें वे गाँव से बाहर निकाल सकते हैं। उसका कर्तव्य सदा दूसरों की सेवा करना है। इस प्रकार इस काल के जो प्राचीन संदर्भ मिले हैं उनसे ऐसा ज्ञात होता है कि शूद्र सामुदायिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अन्य वर्णों के साथ भाग लेते थे। किन्तु इस काल के अन्त में इन्हें अधिकतर धार्मिक कृत्यों से वंचित कर दिया गया।

वेदोत्तर काल (लगभग 600 ई०पू० से 300 ई०पू० तक) तक आते-आते शूद्रों के विरुद्ध कठोर नियम बनाए गये। गौतम और आपस्तम्ब का मत है कि ब्राह्मण स्वयं किसी दास को भोजन न कराए। बौधायन के अनुसार स्नातक को पतित व्यक्तियों, स्त्रियों या शूद्रों के साथ यात्रा नहीं करना चाहिए। उन्होंने लिखा है कि जो विद्यार्थी सफलता प्राप्त करना चाहें उसे शूद्रों और स्त्रियों से बातचीत नहीं करनी चाहिए।

इस काल में शूद्रों से आशा की जाती थी कि वे अपने से उच्च तीनों वर्णों की सेवा करनी चाहिए। वह कुछ निम्न स्तर के व्यवसाय करके भी अपना निर्वाह कर सकता था जैसे कि नाई, धोबी, चित्रकार, बढई और लुहार के काम। इस काल में शूद्र को निश्चय ही अनेक सामाजिक, धार्मिक तथा वैध अधिकारों से वंचित कर दिया गया और अन्य तीन वर्णों की अपेक्षा समाज में उनकी स्थिति बहुत हीन हो गयी।

मौर्य काल में शूद्रों की प्रायः वही स्थिति रही होगी जो सूत्रकाल के अन्तिम दिनों में थी क्योंकि कौटिल्य भी मौजूदा वर्ण व्यवस्था के समर्थक थे।

मौर्योत्तर काल (लगभग 200 ई०पू० से 300 ई० तक) में शूद्रों की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। उन्हें वैदिक ग्रन्थों को पढ़ने का अधिकार नहीं था। मनु ने उनके लिए कठोर दण्ड व्यवस्था निर्धारित की थी। सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भी उनकी स्थिति बहुत हीन थी। इसलिए मनु का मत था कि यदि किसी राष्ट्र में शूद्रों की संख्या अत्यधिक हो जाए तो उस राष्ट्र का सर्वनाश निश्चित है।

कमोवेश शूद्रों की यही स्थिति प्राचीन भारत में विद्यमान रही और वे समाज में, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक, दृष्टि से असमर्थता से ग्रसित थे।

पूर्वमध्य युग में भी शूद्रों का प्रधान कर्म अपने से उच्च वर्णों की सेवा करना ही था। सबसे पहले वे ब्राह्मणों की सेवा करते थे और उसके बाद क्षत्रियों और वैश्यों की। शूद्रों के कर्म के विषय में अलबरूनी लिखता है, “शूद्र ब्राह्मण के सेवक की तरह हैं, जो उनके कार्य व्यापार की देखभाल और सेवा करता है। प्रत्येक ऐसा कार्य जो ब्राह्मण का विशेषाधिकार समझा जाता है, यथा—ईश्वर की प्रार्थना करना, वेद पढ़ना और यज्ञ करना शूद्र के लिए वर्जित है। अगर वह ऐसा करता है तो ब्राह्मण राजा के सम्मुख उस पर आरोप लगाता है और राजा उसकी जीभ काट डालने की आज्ञा देता है। इस प्रकार ईश्वर पूजा, धार्मिक कार्य और दान करना उसके लिए प्रतिबन्धित था। शूद्रों के लिए खेती करना भी मना है, क्योंकि उसका यह कार्य पाप है, जो चोरी के अपराध से कम नहीं है।

तेरहवीं शताब्दी में इस्लाम के आ जाने से एक नयी परिस्थिति पैदा हुई। इस्लाम की कानूनी व्यवस्था में आजाद और गुलाम आदमी के बीच तथा पुरुष और स्त्री के बीच तो भेद किया जाता था लेकिन जाति के आधार पर उसमें कोई भेद नहीं किया जाता था। लेकिन मुसलमानों ने जाति व्यवस्था को अस्वीकार करने के बजाय समाज में जारी रहने दिया। 711—14 ई0 में जब अरबों ने सिंध को जीता उनके सेनापति मोहम्मद बिन कासिम ने जाटों पर पहले से चले आ रहे प्रतिबंधों को ढीला नहीं किया, बल्कि उन्हें सहर्ष अपनी स्वीकृति दे दी। चूँकि जाति व्यवस्था के कारण शासक वर्ग को गाँवों से अधिक राजस्व प्राप्त होता था और शहरों में श्रम की कीमत कम चुकानी पड़ती थी इसलिए भारत के मुस्लिम शासकों के लिए हर तरह से इस व्यवस्था को बनाए रखना जरूरी था।

किन्तु इस्लाम के प्रभाव से शूद्रों की स्थिति पर कुछ सकारात्मक प्रभाव अवश्य पड़ा क्योंकि अब जाति व्यवस्था को पहले की तरह राजनीतिक संरक्षण प्राप्त नहीं था और स्वयं हिन्दू धर्म के अन्दर सुधार की आवाज तेज हुई जिसने प्रमुख रूप से भक्ति आन्दोलन में अभिव्यक्ति पाई, कबीर और रैदास जैसे महात्माओं ने शूद्रों के आक्रोश और विद्रोह को वाणी दी। नानक ने अपने शिष्यों में शूद्रों को विशेष स्थान दिया और गुरु गोविन्द सिंह के खालसा पंथ में इनका बाहुल्य था।

स्वतंत्रता पूर्व ब्रिटिश शासन काल में पाश्चात्य शिक्षा एवं मूल्यों, विज्ञान के प्रसार, औद्योगीकरण, नगरीकरण, राजनीतिक आंदोलन एवं आधुनिकीकरण आदि के विकसित परिवेश के फलस्वरूप लोगों में दलितों के साथ भेदभाव एवं उत्पीड़न के विरुद्ध एक नवीन चेतना का प्रादुर्भाव हुआ। इसी चेतना के कारण कई समाजसुधारकों का जन्म हुआ, जिन्होंने हिन्दुओं के सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन करना चाहा। इनमें प्रमुख नाम महात्मा ज्योतिबा फूले, राजा राममोहन राय, ईश्वर चन्द्र

विद्यासागर, गोविन्द रानाडे, महात्मा गाँधी, बाबा साहब अम्बेडकर, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द आदि थे।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारत में प्राचीन काल से ही दलित (शूद्र) वर्ग समाज में सबसे निचले श्रेणीक्रम में था। सिद्धान्तकारों ने इस वर्ग के ऊपर अनेक निर्योग्यताएँ लगायी थीं जिससे इनका विकास समाज में अन्य वर्गों की तुलना में सबसे निम्न स्तर पर था। स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान डॉ अम्बेडकर ने भारत की वर्णव्यवस्था की चक्की में पिसते इस निचले तबके की मुक्ति के लिए सबसे प्रखर आवाज उठायी। उन्होंने अनुसूचित जातियों (दलितों) के उत्थान के लिए तीन प्रकार के कार्यक्रमों को एक साथ आरम्भ किया।

1. अनुसूचित जातियों की समस्याओं को उजागर करने के लिए “मूकनायक” और “बहिष्कृत भारत” पत्रिकाओं का प्रकाशन तथा सामाजिक और शिक्षा संस्थाओं का गठन। नागरिक अधिकारों को प्राप्त करने के लिए सार्वजनिक तालाबों, कुओं, मन्दिरों और जनेऊ धारण जैसे सत्याग्रहों का आयोजन।
2. अनुसूचित जातियों को जागरूक करने के लिए आत्मबल से संघर्ष करने पर जोर।
3. अनुसूचित जातियों की राजनीतिक भागीदारी और संवैधानिक सुरक्षा के लिए ब्रिटिश शासन से मांग।

स्वतंत्र भारत के संविधान में दलित वर्ग के हित में अनेक संवैधानिक व वैधानिक उपबन्ध किये गये। उन्हें राजनीतिक, प्रशासनिक व अन्य सरकारी सेवाओं में आरक्षण प्रदान किया गया। इन प्रयासों के परिणाम स्वरूप दलित वर्ग में एक नया अभिजन वर्ग भी उभर कर सामने आया है, किन्तु ग्रामीण स्तर पर स्थानीय दलितों की स्थिति आज भी समाज के अन्य वर्गों की तुलना में निम्न स्तरीय है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची:

- | | | |
|---|---|---|
| 1. राज किशोर | — | दलित राजनीति की समस्याएँ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2008 |
| 2. सिंह, राम गोपाल | — | भारतीय दलित समस्याएँ एवं समाधान, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, द्वितीय संस्करण, 1998 |
| 3. भारती, कवल | — | दलित विमर्श की भूमिका, इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद प्रथम संस्करण, 2002 |
| 4. डा0 महेश्वर दत्त | — | गाँधी, अम्बेडकर और दलित, राधा पब्लिकेशन्स, अंसाही रोड, दरियागंज नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2005 |
| 5. विमल चन्द्र पाण्डेय | — | प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, सेन्ट्रल पब्लिकेशंस हाउस, इलाहाबाद, 1977 |
| 6. सुरेन्द्र कुमार, श्री0, राघव प्रसाद सिंह | — | प्राचीन भारत राज्य व समाज विजय प्रकाश मन्दिर, 1199 |